



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2024; 10(2): 230-234

© 2024 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 06-03-2023

Accepted: 12-04-2023

डॉ. ब्रह्मचारी व्यास नन्दन

विश्वविद्यालय आचार्य एवं प्राचार्य
रामेश्वर महाविद्यालय, बी. आर. ए.
बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर,
बिहार भारत

मनुस्मृति और वर्णाश्रम व्यवस्था

डॉ. ब्रह्मचारी व्यास नन्दन

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य में मनु प्रोक्त स्मृति का "मनुस्मृति" "मनुसंहिता", मानव धर्मशास्त्र", "मानवशास्त्र" आदि कई नामों से उल्लेख आता है। "मनुस्मृति" भारतीय साहित्य में सर्वाधिक चर्चित धर्मशास्त्र है क्योंकि अपने रचनाकाल से ही यह सर्वाधिक प्रामाणिक, मान्य एवं लोकप्रिय ग्रंथ रहा है। स्मृतियों में इसका स्थान सबसे ऊँचा और प्रथम है। यही कारण है कि परवर्ती काल में अनेक स्मृतियाँ प्रकाश में आयीं किन्तु वे मनुस्मृति के प्रभाव के समक्ष टिक न सकीं, अपना प्रभाव नहीं जमा सकीं जबकि मनुस्मृति का वर्चस्व आज तक बना हुआ है। मनुस्मृति में कुल 12 (बारह) अध्याय हैं जिनमें विभिन्न विषयों में क्रमशः सृष्टि-उत्पत्ति एवं धर्मोपत्ति, संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम, समावर्तन, विवाह एवं पञ्चमहायज्ञविधान, गृहस्थान्तर्गत आजीविका एवं व्रत, भक्ष्याभक्ष्य, देहशुद्धि, हव्यशुद्धि, स्त्रीधर्म, वानप्रस्थ संन्यासधर्म, राजधर्म, राजधर्मान्तर्गत व्यवहार-निर्णय एवं चातुर्वर्ण्यधर्म का उपसंहार, कर्मफलविधान एवं निःश्रेयस् कर्मों का वर्णन आते हैं।

मनुस्मृति में जहाँ वर्णाश्रम धर्मों के रूप में व्यक्ति एवं समाज के हितकारी धर्मों, नैतिककर्तव्यों, मर्यादाओं आचरणों का वर्णन है वहीं श्रेष्ठ समाज व्यवस्था के लिए विधानों-कानूनों का निर्धारण भी है और साथ ही मानव को मुक्ति प्राप्त कराने वाले आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण है। वस्तुतः यह भौतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षाओं का मिला-जुला अनूठा धर्मशास्त्र है।

मनुस्मृति में मनु ने वेदों का ही प्रधानरूप से अपनी स्मृति का आधार बनाया है। उनकी दृढ़ मान्यता है कि वेद ही धर्म के मूलाधार हैं-वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।¹ वेदों में मानव मात्र के कल्याणार्थ जिन हितकारी धर्मों का प्रतिपादन हुआ है, महाराज मनु ने उन्हीं मान्यताओं को मनुस्मृति का आधार बनाया है तथा धर्म जिज्ञासा में वेद को ही वेद को परम प्रमाण माना है-“धर्मजिज्ञासा समानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।² मनुस्मृति के अनुसार वर्णाश्रम व्यवस्था स्वस्थ समाज की रीढ़ है। इसके अंतर्गत चार वर्ण और चार आश्रम आते हैं। चार वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आते हैं तथा चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था कर्मणा मान्य है, जन्मना नहीं। मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर स्पष्ट और सांकेतिक रूप से ऐसे वर्णन हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि मनु वर्णव्यवस्था का निर्धारण मूलतः शिक्षा एवं कर्म से मानते हैं। जन्मना नहीं। अर्थात् बालक के वर्ण या जाति का निर्धारण माता-पिता से नहीं होता। किसी भी वर्ण से उत्पन्न बालक को माता-पिता अपने वर्ण या किसी भी अन्य वर्ण में दीक्षित करा सकते हैं। शैक्षणिक काल में अन्ततः वर्ण का निश्चय, उसके गुण कर्म, स्वभाव, शिक्षा आदि के आधार पर आचार्य करता है। बाद में जीवन काल में कभी भी शिक्षा, कर्मों या व्यवसाय के आधार पर उसमें परिवर्तन हो सकता है। मनुस्मृति में 'जाति' शब्द 'वर्ण' के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है। कर्म आधारित वर्णव्यवस्था की पुष्टि हमारे प्राचीन परंपरागत प्रमाणों से होती है। 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' में कर्मणा वर्णव्यवस्था की मान्यता स्पष्ट मिलती है। द्रष्टव्य है-

धर्मचर्याया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।

अधर्मचर्याया पूर्वं वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।³

धर्माचरण से निकृष्टवर्ण अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिसके योग्य वह होवे। वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्ण वाला मनुष्य, अपने से नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे जिसके योग्य वह होवे।

अपने धर्मो-कर्मों की पालन न करने पर कोई भी व्यक्ति शूद्र बन जाता है, ऐसा मनु का मत है। यथा-

Corresponding Author:

डॉ. ब्रह्मचारी व्यास नन्दन

विश्वविद्यालय आचार्य एवं प्राचार्य
रामेश्वर महाविद्यालय, बी. आर. ए.
बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर,
बिहार भारत

(क) वेद न पढ़ने पर द्विज शूद्रता को प्राप्त करता है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥⁴

(ख) सन्ध्योपासना न करने वाला व्यक्ति शूद्रवत् होता है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमात् ।
स शूद्रवत् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥⁵

(ग) यथोक्त आयुसीमा तक उपनयन में दीक्षित न होने पर द्विज न बनने वाले 'ब्राह्म्य' संज्ञक शूद्र कहलाते हैं।⁶

(घ) नीचों की संगति से ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है—

उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥⁷

इन ब्राह्मणों से यह सिद्ध होता है कि न तो मनु ने व्यक्ति को जन्म से अश्रेष्ठ माना है और न जन्मना आधार पर ही वर्णव्यवस्था मानी है, यदि जन्म के आधार पर इनका निर्धारण होता तो उक्त रूप से उच्च और निम्न न बनते।

इसके साथ ही शूद्रता को प्राप्त व्यक्ति यदि अपने कर्मों को सुधार लेता है और त्रुटियों के लिए प्रायश्चित्त कर लेता है तो वह पुनः अपने वर्ण का हो सकता है। मनु ने यह मान्यता 'ब्राह्म्य' संज्ञक शूद्रों के लिए और वर्णविरुद्ध कार्यों के कारण ब्राह्मण वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चित्तों में प्रकट की है।⁸ इस व्यवस्था से भी मनु की वर्णव्यवस्था कर्मणा सिद्ध होती है।

मनु ने व्यक्ति की प्रतिष्ठा और बड़प्पन, गुणों की योग्यता के अनुसार माना है।⁹ मनु की यह मान्यता भी यह स्पष्ट करती है कि मनु जन्म के आधार पर श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता अथवा वर्णव्यवस्था नहीं मानते, अपितु कर्म या गुणों को ही आधार मानते हैं।

मनु ने वर्णों के कर्म बतलाते हुए लोकानां विवृद्ध्यर्थम्¹⁰ (समाज की वृद्धि के लिए) और सर्वस्यास्य तु गुप्त्यर्थम्¹¹ (समस्त जगत् की सुरक्षा के लिए) को कर्मनिर्धारण का कारण बतलाया है, क्योंकि यदि जन्म से ही व्यक्ति श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, उच्च-निम्न निर्धारित हो गए तो उससे समाज या जगत् की क्या वृद्धि होगी? केवल उच्च लोगों की वृद्धि होगी। अपितु वृद्धि भी कहाँ होगी, जो जिस स्तर का होगा, वही रहेगा। उसे अपने स्तर की उन्नति का अवसर ही कहाँ मिलेगा? यदि जन्मना वर्ण व्यवस्था मानें तो इन कारणों का कथन निरर्थक होगा। इन कारणों के कथन से एक और संकेत मिलता है, वह यह कि चार वर्णों के अनुसार प्रजायें नहीं बनाईं गयीं अपितु प्रजाओं की वृद्धि के लिए (प्रजाओं के लिए) चार वर्ण बनाये और पहले प्रजाएँ बनीं तो जन्मना समान थीं, फिर उनमें से गुण-कर्मानुसार चार वर्ण निर्धारित किये गए अथवा निमित्त किए गए जिससे समाज-व्यवस्था में बंधकर वृद्धि करता रहे। इस सुन्दर प्रगतिशील कर्मणा वर्णव्यवस्था को स्वयं वेदभगवान् कहते हैं—

ब्राह्मणस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥¹²

यहाँ प्रतीकात्मक रूप में चारों वर्णों को लक्षित किया गया है कि ब्राह्मण मुख के समान, क्षत्रिय दोनों भुजाओं, वैश्य जंघाओं तथा पैर शूद्र के सदृश होता है। इस तरह जो व्यक्ति अज्ञान को मिटाता है और ज्ञान का विस्तार व प्रचार करता है, वह ब्राह्मण वर्ण कहलाता है, उसी प्रकार जो अन्याय को मिटाता है और न्याय का विस्तार करता है, वह क्षत्रिय वर्ण, जो अभाव को मिटाता है वह वैश्य और जो आलस्य को भगाता है, वह शूद्रवर्ण का होता है। यहाँ भी वर्णव्यवस्था कर्मानुसार ही है, जन्मना नहीं। यहाँ जन्मना जायते

शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्चते' की घोषणा सिद्ध होती है। इस प्रसंग में महर्षि मनु की स्पष्ट घोषणा द्रष्टव्य है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जात मेवं तु विद्याद्वैश्यान्तथैव च ॥¹³

अर्थात् श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार क्रमशः शूद्र कुलोत्पन्न बालक या व्यक्ति ब्राह्मण और ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति शूद्र हो जाता है अर्थात् गुणकर्मों के अनुकूल कोई ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार शूद्र के घर में उत्पन्न भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है और जो उत्तम वर्ण के गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य हो जाता है। इसीप्रकार क्षत्रिय और वैश्य के कुल में उत्पन्न बालक या व्यक्ति का भी वर्ण-परिवर्तन समझना चाहिये।

इसी गुणकर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्म विभागशः ॥¹⁴

'वर्ण' शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति ही यह सिद्ध करते हैं कि मनु की व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है। 'निरुक्त' में 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति दी है—वर्णो वृणोतेः¹⁵ अर्थात् कर्मानुसार जिसका वरण किया जाय, वह वर्ण है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने भी स्पष्ट किया है—

वर्णो वृणोतेऽिति निरुक्त प्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हाः ।
गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं त्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥¹⁶

अर्थात् गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जाये वह वर्ण है। यहाँ वर्णों के नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था के बोधक है जो उनके कर्मानुसार रखे गए हैं जो निम्नवत् हैं—

(क) ब्राह्मण— वेद और परमात्मा के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या आदि गुणों का धारण करने से व्यक्ति 'ब्राह्मण' कहलाता है। ब्राह्मण वर्णस्थों के कर्म—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥¹⁷

(ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मण वर्ण को धारण करने वाले मनुष्यों के लिए (अध्ययनम् अध्यापनम्) पढ़ना-पढ़ाना (तथा) और (यजनं याजनम्) यज्ञ करना-कराना (दानं च प्रतिग्रहः एव) श्रेष्ठों को और श्रेष्ठ कार्यों में दाम देना और लेना ये छह कर्म (अकल्पयत्) निर्धारित किए हैं।

(ख) क्षत्रिय वर्णस्थों के कर्म —

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसवितश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥¹⁸

(प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं की सभी प्रकार की रक्षा करना, (दानम्) दान देना, (इज्या) यज्ञ करना-करवाना, (अध्ययनम्-एव) और वेदादि शास्त्रों को पढ़ना (च) तथा (विषयेषु अप्रसवितः) विषयों में आसक्त न रहकर जितेन्द्रिय रहना, (क्षत्रियस्य समासतः) में संक्षेप से क्षत्रिय वर्णधारण करने वाले मनुष्यों के कर्तव्य हैं।

(ग) वैश्य वर्णस्थों के कर्म—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥¹⁹

(पशूनां रक्षणम्) पशुओं की सब प्रकार से रक्षा करना, (दानम्) श्रेष्ठों को और श्रेष्ठ कार्यों के लिए दान देना, (इज्या) यज्ञ करना—करवाना और वेदादिशास्त्रों को पढ़ना, (वणिक्पथम्) सब प्रकार का उत्तम व्यापार करना (च कुसीदं) और नियमानुसार ब्याज लेना (च) और (कृषिम+ एव) खेती करना—करवाना (वैश्यस्य) में वैश्यवर्ण को धारण करने वाले व्यक्तियों के कर्तव्य है।) (घ) शूद्र वर्णस्थों के कर्म—

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशम्।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।²⁰

(प्रभुः) परमात्मा ने (शूद्रस्य एकम्+एव कर्म) शूद्र वर्ण को धारण करने वाले मनुष्यों का एक ही कर्तव्य (समादिशत्) निर्दिष्ट किया है; वह यह है कि (एतेषाम्+एव वर्णानाम्) इन्हीं वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का (अनसूयया शुश्रूषा) ईर्ष्या—निन्दा रहित रहकर सेवाकार्य करना।

इस प्रकार कर्मानुसार चारों वर्णों के कर्तव्यनिर्दिष्ट किए गए हैं। सूत्रात्मक शैली में इन्हें कहा जा सकता है—शिक्षक, रक्षक, पोषक एवं सेवक।

आश्रम व्यवस्था — महाराज मनु ने वेदानुसार ही मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। मानव—जीवन की सामान्यतः सौ वर्षों की आयु को चारों आश्रमों में बराबर—बराबर निम्नवत् विभाजित किया गया है—ब्रह्मचर्याश्रम— (1 से 25 वर्ष पर्यन्त), गृहस्थाश्रम (26 से 50 वर्ष पर्यन्त), वानप्रस्थाश्रम (51 से 75 वर्ष पर्यन्त) और संन्यासाश्रम (76 से 100 वर्ष पर्यन्त)। सबको क्रमशः 25 वर्ष कार्य करने हेतु मिले हैं।

मनु की आश्रम व्यवस्था भी कर्म पर आधारित है। 'आश्रम' का अर्थ है कि चारों तरफ से कर्म या श्रम करना। चारों आश्रमों का क्रमवार विवेचन इस प्रकार है—

(क) ब्रह्मचर्याश्रम — यह आश्रम विद्योपार्जन का आश्रम है। यहाँ 'ब्रह्म' के तीन अर्थ ग्राह्य होते हैं—ब्रह्म—'वेद', ब्रह्म—'ईश्वर' और ब्रह्म—'शुक्र'। ब्रह्मचारी वेद को पढ़ता है, ईश्वर की उपासना करता है और शूद्र (वीर्य) की रक्षा कर स्वस्थ व बलिष्ठ शरीर को प्राप्त करता है। इस आश्रम में ब्रह्मचारी वेद पढ़ता हुआ ईश्वर की उपासना करता है और इसके लिए उसे सदाचारणपूर्वक शुक्र (वीर्य) की रक्षा करनी पड़ती है। इस व्यवस्थित कर्म से ब्रह्मचारी स्वस्थ, सुशील, विद्वान् और चरित्रवान् ईश्वरोपासक होता है।

ब्रह्मचर्य जीवन की विशेषताओं पर अथर्ववेद का 'ब्रह्मचर्यसूक्त' अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें 'ब्रह्मचर्य' को 'तप' कहा गया है और इसे शारीरिक उन्नति के साथ—साथ मानसिक उन्नति की भी आधारशिला 'ब्रह्मचर्यजीवन' होता है। प्राचीन गुरुकुलीय जीवन में शिष्य को ब्रह्मचारी और अन्तेवासी कहा गया है। ब्रह्मचर्य—महिमा पर वेद में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य और तपस्या के बल पर देवताओं ने मृत्यु को जीता। मंत्र द्रष्टव्य है—

“ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाध्नत।²¹

महर्षि मनु इस महत्वपूर्ण जीवन को हर प्रकार से दोषरहित होने के लिए कुछ वर्जना भी की है। श्लोक द्रष्टव्य है—

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसानस्त्रियः।

शुक्तानि तानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।²²

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी को मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री, और पुरुष का संग, सब प्रकार की खटाई, प्राणियों की हिंसा, अंगों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आँखों में अंजन, जूते व छत्र का धारण, काम, क्रोध,

लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, नाच—गान और बाजा बजाना, द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवे, सर्वत्र एकाकी सोये, वीर्य स्खलित कभी मत करे। सर्वदा ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे। ब्रह्मचर्यकाल में ब्रह्मचारियों को उपनीत (यज्ञोपवीत) धारण कर गायत्री मंत्रादि²³ के साथ वेदाध्ययन करना चाहिये। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उन्हें मेखला धारण करनी चाहिये। सदैव ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए सतर्क व सावधान होकर गुरु की सेवा—शुश्रूषा करनी चाहिये। साथ—साथ नित्य अभिवादन गुरुजनों को करना चाहिये जिससे उन्हें आयु, विद्या, यश और बल की प्राप्ति हो सके। श्लोक द्रष्टव्य है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।²⁴

इसके साथ ही ब्रह्मचारी को परस्त्री या परपत्नी को नामोच्चारण का निषेध करते हुए उसे सुभगे, भवती, अग्निनी, आदि शिष्टाचारवाचक शब्दों से सम्बोधन करे—

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योजितः।

तां ब्रूयाद् भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च।²⁵

इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम का जीवन तपस्वी के समान विभिन्न प्रकार के शिष्टाचार से संयुक्त रहकर नित्य स्वाध्याय, अग्निहोत्र, सन्ध्योपासना, आहार—विहार, आदि संस्कारजन्य कार्यों को करते हुए गुरुकुलों में रहकर स्नातक, विद्यास्नातक, व्रत स्नातक और विद्याव्रत स्नातक होकर सांगोपांग वेदाध्ययन कर निष्णात विद्वान् वा पणितु होवे। इस क्रम में ब्रह्मचारी को वसु ब्रह्मचारी (1—24 वर्ष ब्रह्मचर्यव्रत), रुद्र ब्रह्मचारी (36 वर्ष पर्यन्त), आदित्य ब्रह्मचारी (48 वर्ष पर्यन्त) की कोटियों को यथासंभव चयन कर महान् उपलब्धियों को प्राप्त करना चाहिये। इस क्रम उसे निरलस होकर सदैव सक्रिय होकर व्रतों का पालन करना चाहिये, तत्पश्चात् ही वह गृहस्थ की ओर गमन करे अथवा लोकोपकार के लिए आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन कर उत्तम स्थान अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करे।

गृहस्थ आश्रम — विवाह संस्कारोपरान्त ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते हैं। महर्षि मनु ने गृहस्थाश्रम को सबसे बड़ा व महत्वपूर्ण आश्रम माना है क्योंकि इसी आश्रम द्वारा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी पालित—पोषित होते हैं। इस प्रसंग में पंचम अध्याय द्रष्टव्य है, जहाँ भक्ष्याभक्ष्य, देह शुद्धि, द्रव्यशुद्धि—स्त्री धर्म का विधान लिखा है जिनसे जीवन लोकोपकार के लिए तैयार होता है गृहस्थियों को मांसभक्षण से सदैव दूर रहकर अष्टपापों से बचने की बात अत्यन्त ग्रहणीय है—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।

संस्कृतां चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः।²⁶

अर्थात् अनुमति देने वाला, मांस को काटने वाला, पशु—पक्षी आदि को मारने वाला, मारने के लिए पशुओं को मोल लेने वाला और बेचने वाला (मांसादि खरीद—बिक्री करने वाला), पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला, ये सब हत्यारे और पापी हैं। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की शुद्धि करनी की बात मनु करते हैं, क्योंकि गृहस्थी ही परिवार, समाज, और राष्ट्र को उत्तम संतान देते हैं और सृष्टिक्रम आगे बढ़ता है। इससे लिए गृहस्थ आश्रम के लोग, पति—पत्नी सभी शुद्ध—पवित्र रहें, तभी संतान भी श्रेष्ठ होगी। श्लोक द्रष्टव्य है—

अदिभर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिज्ञानेन शुद्ध्यति।²⁷

जल से शरीर के ऊपर के अंग शुद्ध पवित्र होते हैं, सत्य से मन शुद्ध होता है, विद्या और तप से प्राणियों की आत्मा शुद्ध होती है और ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है।

गृहस्थों के धन की शुचिता भी होनी चाहिये। वह पवित्र व परिश्रमपूर्वक धनोपार्जन करे ताकि संतान संस्कारी हो सके। मनु ने अर्थशुचिता को सर्वोत्तम शुद्धि माना है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परंस्मृतम् ।

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृदवारि शुचिः शुचिः ॥²⁸

अर्थात् सभी शुद्धियों—पवित्रताओं में धर्म से, पवित्रता से अर्थसंग्रह करना ही सर्वश्रेष्ठ शुद्धता—पवित्रता है। अधर्म अन्याय से धन ग्रहण नहीं करता वही सर्वश्रेष्ठ शुद्ध—पवित्र धन कहलाता है। मिट्टी और जल से होने वाली शुद्धता—पवित्रता वैसी उत्तम शुद्धि नहीं है अर्थात् यह तो केवल बाध्य शुद्धि है।

इस प्रसंग में मनु ने गृहस्थियों के द्वारा भी दानादि कर्म होता रहे तथा वेदादि पठन—पाठन कार्यरूप ब्रह्मदान होता रहे, तभी परोपकारादि कार्य होते रहेंगे और जन—जन का कल्याण हो पायेगा। मनु ने वेदविद्यारूप ब्रह्मदान का सब दानों में महान् (उत्तम) माना है। श्लोक द्रष्टव्य है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।

वार्यन्नगोमहीवाशसतिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥²⁹

गृहस्थाश्रम में पति—पत्नी परस्पर संतुष्ट रहें और अपने कुल की मर्यादा सुनिश्चित करे ताकि उत्तम संतान प्रजनित हो सके। वही गृहस्थी सर्वप्रकारेण सुखी और सर्वकल्याण कारक होगा— संतुष्टो भार्यायभामभर्ता भर्ता भार्या तथैव च ।

तस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥³⁰

इसी क्रम में पत्नी में कौन से गुण होने चाहियें इस ओर भी मनु की दृष्टि प्रशंसनीय है—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।

सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥³¹

पत्नी को सदा अति प्रसन्न रहना चाहिये और गृहसंबंधी कार्यों में चतुर होना चाहिये। सब पदार्थों को शुद्ध—स्वच्छ रखने वाली होना चाहिए और खर्च करने में खुले हाथ वाली न हो अर्थात् धन को बहुत खर्च करने वाली नहीं होनी चाहिए।

गृहस्थी को पञ्चमहायज्ञ अवश्य करना चाहिये ताकि उसका जीवन सांस्कृतिक भी हो और पुण्य से युक्त हो। पञ्चमहायज्ञ में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ आते हैं।³² इसके अनुष्ठान के कारण पर भी मनु ने दृष्टिपात किया है। उनके अनुसार चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली तथा पानी का घड़ा गृहस्थियों के ये पाँच हिंसा—संभावित स्थान हैं, जिनके प्रयोग में लाते समय गृहस्थ व्यक्ति हिंसा विषयक पाप से बँध जाता है, इसीलिए उसी क्रम से हिंसादोषों की निवृत्ति या परिशोधन के लिए गृहस्थ लोगों को प्रतिदिन पाँच यज्ञों को अवश्य करना चाहिये—

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।

कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु बाहयन् ॥³³

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।

पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥³⁴

गृहस्थाश्रम वासियों का परम कर्तव्य है कि अग्निहोत्र से वायुजल की शुद्धि करे क्योंकि उससे प्रजाओं तथा अन्य पदार्थों का कल्याण होता है। समय पर वर्षा होती है और अन्न, जल आदि की समस्या देश में नहीं आवे।

वानप्रस्थाश्रम — मनुस्मृति का षष्ठ अध्याय वानप्रस्थ और संन्यास—धर्म विषय को लेकर अत्यंत प्रसिद्ध है। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार गृहाश्रम का पालन करके जितेन्द्रिय होकर वन में वास करे अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम को धारण करे। ये इसका समय निर्धारण करते हुए कहा गया है कि गृहस्थ जब अपने शरीर की त्वचा ढीली होती देखें, सफेद बाल होते देखें और पुत्र का पुत्र—पौत्र हुआ देख लें, उसके पश्चात् वानप्रस्थ धारण कर वन में जाकर रहें—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपतिमात्मनः ।

अपत्यस्यैव चापत्यं तक्षऽरण्यं समाश्रयेत् ॥³⁶

जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्निहोत्र की सामग्री सहित लेके ग्राम से निकल, जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे। फलतः वानप्रस्थ स्वाध्याय, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि करता हुआ गृहस्थाश्रम की खोयी शक्ति का अर्जन करे। यही अभिप्राय है। आश्रम में आये हुए का कन्द—मूल फलादि से सत्कार करे यही अतिथि का पालन निर्देशित है। इसके साथ मनु जीवन व्यतीत करते हुए चातुर्मास्य यज्ञ करे।

चातुर्मास्य के अंतर्गत कार्तिक, फाल्गुन, आषाढ़ के प्रारंभ में अथवा वर्षा ऋतु में चातुर्मास्य यज्ञ करे। सभी प्रकार के मादक द्रव्य, मांसभक्षण, भूमि में उत्पन्न होने वाले कवक (कुकुरमुत्ता) सफेद, सहिजन, लिसौड़े के फल इन्हें भोजन में वर्जित करे। श्लोक द्रष्टव्य है—

वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च ।

भूस्तृणं शिग्रूकं चैव श्लेष्मातक फलानि च ॥³⁷

वानप्रस्थी आये हुए अतिथि को यथायोग्य भिक्षादान करे और स्वयं भी तपस्वियों के घरों से भिक्षा प्राप्त करे। यह अभ्यास अहंकार—अभिमान को दूर करने वाला होता है। आत्मशुद्धि के लिए वेदमंत्रों का मनन—चिन्तन करते हुए ईश्वर का ध्यान भी करे। ऐसे कार्यों के करने से आसक्ति से मुक्ति मिलती है और जीवन ब्रह्मचर्यव्रती होकर संन्यास की तैयारी में संलग्न रहे।

संन्यासाश्रम — वानप्रस्थाश्रम के पश्चात् संन्यासाश्रम का समयविहित है। योग्य संन्यासी—यति से विधिवत् दीक्षित होकर संन्यासी बने। परमात्मा प्राप्ति हेतु पूर्ण वैराग्य होने पर गृहस्थ से भी संन्यास ले सकता है। इसके अतिरिक्त सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से भी संन्यास ले सकता है जो सबके लिए सक्षम नहीं है।

जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) सब प्राणियों को अभयदान की घोषणा करके, लोकोपकार करने की प्रतिज्ञा करके वानप्रस्थ अपना स्थायी आवास त्यागकर अथवा गृहस्थ अपना घर त्यागकर संन्यास ग्रहण करता है। उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी तेजोमय ज्ञान से प्रकाशित हो जाते हैं और मोक्ष को प्राप्त करते हैं। संन्यासी में सब प्राणियों के प्रति निर्वैरता होती है, वह केवल लोकोपकार ही करता है। इस कारण वह सबको अभयदान देता है। यह अभयदान की प्रतिज्ञा ब्राह्मणग्रंथों में भी इसी प्रकार विहित है—

पुत्रैषणा वितैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता, मत्तः

सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु ॥³⁷

अर्थात् संसार में सन्तान—प्राप्ति, धन—प्राप्ति, प्रसिद्धि—प्राप्ति की ये तीन इच्छाएँ ही प्रधान हैं। जिनके वशीभूत होकर व्यक्ति ईर्ष्या—द्वेष आदि में फँसता है। इनसे मुक्त होकर ही व्यक्ति वास्तव में संन्यासी बनता है। तब उनसे सब प्राणियों को अभय होता है। ऐसे अभयदान के हम भी भागी बने, इसके लिए एक मन्त्र स्मरणीय है—

यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु ।

शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥³⁸

अपि च,
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।।³⁹

मनु ने संन्यासी को सदैव पवित्र सत्य आचरण करने को कहा है—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतं वदेद् वाक्यं मनःपूतं समाचरेत्।।⁴⁰

संन्यासी सदैव मान—अपमान, लाभ—हानि, सुख—दुख, जय—पराजय को समान समझे कभी विचलित न होवे, यही समत्वभाव (स्थितप्रज्ञ) ही योग है—‘समत्वं योगमुच्यते’⁴¹ लोकोपकार करते समय कभी क्रोध न करे। संन्यासी मुण्डनपूर्वक काषाय (गेरुवे) वस्त्र धारण करके जितेन्द्रिय होकर सर्वत्र परिब्राजक होकर विचरे और धर्मापदेश करे। वह एक समय की भिक्षा मांगे और उसी में संतुष्ट है। भिक्षा न प्राप्त होने पर दुःख अनुभव न करे। संन्यासी सदैव पक्षपात रहित होकर सबको ज्ञानबल और तपोबल से लाभ पहुँचाकर कल्याण करे तथा योगाभ्यासपूर्वक मुक्ति की प्राप्ति के लिए सचेष्ट रहे। निःसंदेह मनुप्रोक्त मनुस्मृति की ‘वर्ण—व्यवस्था’ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह उत्तम सामाजिक व धार्मिक व्यवस्था हमें नैतिक बनाती है। जबकि प्रगतिशील, चिन्तनशील होकर वेदोक्तधर्म मार्ग पर चलते रहने का संदेश देती है तथा समाज के लिए मानवमात्र को उत्तम प्रेरणा देती है।

संदर्भ

1. मनुस्मृति 2/6
2. मनु० 2/13
3. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/5/10-11
4. मनुस्मृति/ 2/168
5. वही, 2/103
6. वही 2/37-40
7. मनु० 4/245
8. मनु० 11/191-196
9. मनु० 2/136, 137, 154, 156
10. मनु० 1/31
11. मनु० 1/87
12. ऋग्वेद 10/90
13. मनु० 10/65
14. श्रीमद्भगवद्गीता 4/13
15. निरुक्त, महर्षि यास्क 2/1/4
16. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वर्णाश्रमधर्मविषय, पृ०-293
17. मनु० 1/88
18. मनु० 1/89
19. मनु० 1/90
20. मनु० 1/91
21. अथर्ववेद, ब्रह्मचर्यसूक्त, 11/5/19
22. मनु० 2/177-180
23. यजु० 36/03
24. मनु० 2/121
25. मनु० 2/129
26. मनु० 5/51
27. मनु० 5/101
28. मनु० 5/106
29. मनु० 4/233
30. मनु० 3/60
31. मनु० 5/150
32. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
33. होमो देवी बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। मनु० 3/70
34. मनु० 3/68

35. मनु० 3/68
36. मनु० 3/76
37. मनु० 6/02
38. शत० ब्रा० 14/6/4/9
39. यजुर्वेद 36/22
40. अथर्ववेद 19/15/6
41. मनु० 6/46
42. श्रीमद्भगवद्गीता 2/48